जनसत्ता



# आचार बनाम प्रचार

आजकल चुनावों में किस कदर धनबल का बोलबाला रहता है, यह छिपी बात नहीं है। निर्वाचन आयोग पैसा, शराब, नशीले पदार्थ, जेवरात वगैरह बांट कर मतदाताओं को रिझाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने का प्रयास करता है, पर हकीकत यह है कि हर बार यह प्रवृत्ति कुछ बढ़ी हुई ही नजर आती है। इस बार आम चुनाव की घोषणा के एक पखवाड़े के भीतर ही निर्वाचन आयोग द्वारा गठित निगरानी दस्तों ने विभिन्न राज्यों से करीब पांच सौ चालीस करोड़ रुपए मूल्य की नगदी, जेवर, शराब, नशीले पदार्थ आदि की जब्ती की। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि अब तक कितना पैसा मतदाताओं को लुभाने में खर्च किया जा चुका है। अभी चुनाव संपन्न होने में करीब दो महीने बाकी हैं। इस दौरान चुनाव प्रचार में कितने धन का प्रवाह होगा, इसका हिसाब शायद ही कभी मिलेगा। सवाल है कि जब चुनाव में खर्च की सीमा तय है, निर्वाचन अयोग के निगरानी दस्ते हर प्रत्याशी के चुनाव खर्च पर नजर रखते और कोशिश करते हैं कि चुनाव खर्च तय सीमा से अधिक न होने पाए, फिर कैसे हर चुनाव में खर्च को लेकर मनमानी देखी जाती है!

चुनावों में बेतहाशा खर्च पर लंबे समय से चिंता जताई जाती रही है। छिपी बात नहीं है कि पार्टियां और उनके प्रत्याशी तय सीमा से अधिक जो पैसा खर्च करते हैं, वह अवैध रूप से जुटाया गया होता है। वह कालाधन होता है। मगर हैरानी की बात है कि हर पार्टी भ्रष्टाचार और कालेधन पर अंकुश लगाने के दावे करती है, मगर चुनाव में उसके प्रवाह पर रोक लगाने के प्रति उनमें से किसी में इच्छाशक्ति नहीं दिखाई देती। सभी पार्टियां और प्रत्याशी अपने प्रतिद्वंद्वी से अधिक खर्च करने की होड़ में शामिल दिखते हैं। इसमें पोस्टर, कटआउट, झंडे, रैलियों पर आने वाला खर्च तो सीमा से अधिक होता ही है, मतदाताओं को नगदी और शराब आदि बांटने पर आने वाला खर्च भी उससे कम नहीं होता। निर्वाचन आयोग की सीमा है कि वह हर जगह अपने दस्ते तैनात नहीं कर सकता, इसलिए सब पर नजर रखना कठिन बना हुआ है। फिर यह भी एक बड़ी दिक्कत है कि चुनाव खर्च के मामले में प्रत्याशी की खर्च सीमा तो तय है, पर पार्टी के लिए कोई सीमा नहीं रखी गई है। ऐसे में बहुत सारे प्रत्याशी अपना खर्च पार्टी के खाते में दिखा देते हैं। फिर निर्वाचन आयोग को गैरकानूनी तरीके से किए जाने वाले खर्चों पर नजर रखने का अधिकार तो है, पर वह किसी प्रत्याशी को इसके लिए दंडित नहीं कर सकता। इसलिए भी बहुत सारे प्रत्याशी नियम-कायदों को धता बताने से बाज नहीं आते।

चुनाव में प्रत्यक्ष रूप से किए जाने वाले खर्च से कहीं अधिक चिंता का विषय चोरी-छिपे मतदाताओं को नगदी, शराब, नशीले पदार्थ आदि बांट कर अपने पक्ष में करने की कोशिश है। यह स्वच्छ और निष्पक्ष तरीके से चुनाव संपन्न कराने की प्रक्रिया को चुनौती है। इससे लोकतांत्रिक प्रक्रिया प्रश्नांकित होती है। फिर इस तरह धन के प्रवाह से गैरकानूनी तरीके से जुटाए गए धन को सफेद करने में मदद मिलती है। बेतहाशा चुनाव खर्च की बढ़ती प्रवृत्ति की वजह से पार्टियां बेजा तरीके से अपना कोष भरने का प्रयास करती हैं। कई पार्टियां पैसे लेकर प्रत्याशियों को टिकट देने लगी हैं। इस प्रवृत्ति पर अंकुश तभी लग सकता है, जब निर्वाचन आयोग को अधिक आजादी और कड़े दंडात्मक अधिकार प्रदान किए जाएं।

# सितारों के सहारे

हाल ही में फिल्मी जगत की मशहूर नायिका उर्मिला मातोंडकर कांग्रेस में शामिल हुईं तो जयाप्रदा ने अब भाजपा का दामन थाम लिया। हेमा मालिनी, शत्रुघ्न सिन्हा, राज बब्बर, रवि किशन, दिनेशलाल यादव (निरहुआ) और गौतम गंभीर जैसे कई नाम ऐसे हैं जिन्होंने या तो फिल्मी दुनिया से अपनी पहचान बनाई है या फिर खेल के मैदान से। लेकिन ये सभी और इनके जैसे अन्य मशहूर सितारे अब न सिर्फ राजनीतिक तौर पर भी जाने जाएंगे, बल्कि इनमें से कई चुनावी मैदान में अगर जीत हासिल करते हैं, तो लोकसभा में भी पहुंचेंगे। यानी जिस लोकसभा चुनाव में महज टिकट हासिल करने के लिए किसी स्थानीय या राष्ट्रीय नेता को जमीनी गतिविधियों के जरिए जनता के बीच अपने प्रति समर्थन पैदा करने से लेकर अपनी पार्टियों के शीर्ष नेतृत्व तक को संतुष्ट करना पड़ता है, उसके लिए किसी फिल्मी कलाकार का सिर्फ सिनेमा के पर्दे पर मशहूर होना काफी मान लिया जाता है। सवाल है कि इसके पीछे राजनीतिक दलों की कौन-सी मजबूरी काम करती है जिस वजह से उन्हें जनता को आकर्षित करने के लिए फिल्मी या खेल की दुनिया के सितारों का सहारा लेना पड़ता है।

गौरतलब है कि पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस ने इस लोकसभा चुनाव में अपनी पार्टी से कुल इकतालीस फीसद महिला उम्मीदवारों को टिकट दिया है। उनमें से कई फिल्मी तारिकाएं हैं। हालांकि भारत चूंकि एक लोकतंत्र है, इसलिए किसी को भी राजनीतिक गतिविधियों या चुनावों में हिस्सा लेने का अधिकार है। इसके बावजूद यह सवाल अपनी जगह है कि फिल्मी दुनिया के सितारे अचानक जिस इलाके की जनता की नुमाइंदगी करने के लिए चुनावी मैदान में उतर जाते हैं, क्या उससे उनका संवाद होता है और क्या वे स्थानीय जरूरतों और समस्याओं को लेकर पर्याप्त संवेदनशील होते हैं? यों ऐसे आरोप राजनीतिक दलों से जुड़े कुछ नेताओं पर भी लगाए जा सकते हैं, लेकिन सच यह भी है कि चुनाव लड़ने वाले ज्यादातर नेताओं की अपने इलाके की जनता के बीच पैठ होती है और वे अपने इलाके की संरचना और उसकी जरूरतों की समझ रखते हैं। हालांकि चुनावों में फिल्मी हस्तियों को उतारना कोई नया चलन नहीं है और 1980 के दशक से ही उन्होंने चुनावी राजनीति में कदम रखना शुरू कर दिया था और अब इसकी एक लंबी श्रृंखला है।

दरअसल, राजनीतिक दलों को यह इसलिए सुविधा का मामला लगा कि सिनेमा के पर्दे से लोकप्रिय सितारों के जीतने की संभावना ज्यादा थी और जनता के एक बड़े हिस्से को इनके ग्लैमर की ओर खींचा जा सकता था। इससे एक सवाल यह भी उभरता है कि आखिर हमारी पार्टियों ने आम लोगों के बीच राजनीतिक सशक्तिकरण के मसले पर किस तरह काम किया है कि वे किसी नेता के सरोकार, ईमानदारी, जमीनी पकड़ आदि का आकलन करने के बजाय फिल्मों या खेल की दुनिया के सितारों की चकाचौंध से आकर्षित होकर वोट देते हैं? एक अहम पहलू यह भी है कि ग्लैमर के बूते जीत हासिल करने के बाद सदन में उपस्थिति के लिए वक्त नहीं निकालने से लेकर जनता के जरूरी मुद्दों को उठाने और बहस करने के मामले में इन सितारों का रिकार्ड संतोषजनक नहीं रहा है। ऐसे में यह सवाल स्वाभाविक है कि जनता की नुमाइंदगी के लिए फिल्मी सितारों के आकर्षण की जरूरत है या फिर जमीनी हकीकतों, लोकतांत्रिक परंपराओं, संविधान आदि की समझ रखने वाले और जनता की जरूरतों के मुताबिक कारगर नतीजे देने वाले किसी ईमानदार नेता की?

## कल्पमेधा

जो अपने ऊपर शासन नहीं कर पाएगा, वह हमेशा दूसरों का गुलाम रहेगा।
-गेटे

# जनांदोलनों के राजनीतिक सरोकार

अमरेंद्र किशोर

**देश के आंदोलनकारियों को कितना पता है कि कुछ आविष्कृत टीकों का परीक्षण चोरी-छिपे भारत के आदिवासी बच्चों पर करवाया जा रहा है! यहां तक कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित 1966 की मानवीय अधिकारों से जुड़ी प्रसंविदा में इंसान को 'गिनी पिग' नहीं बनाने की हिदायत की धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई है।**

अरुणाचल प्रदेश के मशहूर पर्यावरणविद लामा लोबसांग गयस्तो अब राजनीति में अपनी किस्मत आजमाएंगे। गयस्तो राज्य के तवांग जिले में सियांग नदी में प्रस्तावित बांध के विरोधी हैं। वे अंतरराष्ट्रीय बांध-लॉबी से लोहा लेते हुए आखिरकार इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि राजनीतिक तौर से सक्षम होकर अपने संघर्ष को कहीं ज्यादा मजबूती दे सकते हैं। राज्य में सियांग पर जारी सियासत गयस्तो के विरोधी तेवर से सहमी हुई रहती है। इस कारण उनके इस निर्णय को राज्य की राजनीति में एक परिवर्तनकारी मोड़ माना जा रहा है। वहां मुद्दा यही है कि 11000 मेगावाट क्षमता के इस बांध से स्थानीय जनजाति की पूरी जमीन प्रस्तावित बांध के कृत्रिम जलाशय में डूब जाएगी। लिहाजा, आदि-समुदाय के आदिवासी गयस्तो से बहुत सारी उम्मीदें पाल बैठे हैं। आदिवासियों का यही समर्थन लामा लोबसांग गयस्तो की मानसिक ताकत है। लिहाजा, उन्हें उम्मीद है कि इस ताकत को वे जनादेश में तब्दील कर लेंगे। उल्लेखनीय है कि ऐसी ही ताकत ने पर्यावरणविद मेधा पाटकर को 2014 के लोकसभा चुनाव में उत्तर-पूर्व मुंबई से प्रत्याशी बनने को उकसाया था। सवाल है कि जनांदोलनों की ऐसी कौन-सी बाध्यता या लाचारी होती है जो राजनीतिक ताकतों से घुल-मिल कर ही अपनी सार्थकता हासिल करने को बेचैन हो जाती है? क्या जनांदोलन कोई साधन और सूत्रधार है, कोई साध्य है या मोलभाव करने का मौका है?

दरअसल, आजादी के पहले तक सामाजिक संघर्ष और उनसे जुड़े तमाम आलोड़न उस सत्ता के खिलाफ होते थे, जिनका एकमात्र उद्देश्य कम से कम लागत के बूते संसाधनों के अधिकाधिक दोहन का होता था। इसीलिए मराठवाड़ा-विदर्भ-सह्याद्रि और काठियावाड़ में शोषण की जमीन पर खिलती कपास की फसलों की खुशियां मैनचेस्टर के बाजारों में मनाई जाती थीं। यह इसी मुल्क की कहानी है कि बंगाल के भद्रलोक की तिजोरियों को भरने के लिए दामोदर घाटी परियोजना का ब्लू-प्रिंट इंग्लैंड ने अमेरिका से अणु-बम बनाने का फॉर्मूला देकर हासिल किया था। तब देश खामोश था। हालांकि तब इस बात की बहस शुरू हो चुकी थी कि मुलशी में टाटा बांध बना लेते हैं तो उससे घाटी को क्या नुकसान हो सकता है। मुलशी घाटी के डूब क्षेत्र के किसानों ने तब एक नाकाम रहा संघर्ष किया था।

दुनिया का पहला बांध विरोधी मुलशी पेटा का वह आंदोलन (1920-24) टाटा द्वारा निर्मित पनबिजली परियोजना के खिलाफ व्यापक प्रतिरोध था। इस प्रतिरोध ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को मजबूती देने में व्यापक सफलता हासिल की थी। सनद रहे कि आदिवासी विद्रोहों से इतर आजादी के पहले की तमाम लड़ाइयां राष्ट्रीय हितों से जुड़ी होती थीं। तब राजनीति और समाज का साझा सरोकार था। लेकिन राजनीतिक सत्ता हासिल करने के मंसूबे तब कहीं नहीं थे। तब आंदोलन होते थे, लोगों के बोल फूटते थे, मगर उसका कोई अगुआ विधानमंडल या संसद में जाने के उपाय नहीं तलाशता था।

बात बहुत पुरानी नहीं है। 1978 में बोधगया मठ के खिलाफ महिलाओं द्वारा शुरू किए गए उस जमीन संघर्ष को ताकत देने के मकसद से कुछ समय के लिए संपूर्ण क्रांति के योद्धाओं के साथ लोकनायक जयप्रकाश नारायण खुद बोधगया गए। लेकिन इस आंदोलन के बूते राजनीतिक हित साधने की कोशिश न आंदोलनकारी महिलाओं ने की और न ही आंदोलनकारियों ने। कहा तो यह भी जाता है कि मुलशी का विवाद देश के उस टकराव का पहला संकेत माना गया, जिसमें प्राचीन कृषि व्यवस्था में जी रही घनी आबादी के औद्योगीकरण की मार तरीके से पड़ती है। फिर भी, मुलशी सत्याग्रह नर्मदा बचाओ आंदोलन का एक अग्रज भर ही नहीं माना जाता, बल्कि वह सिंगुर, नंदीग्राम जैसी दर्जनों जगहों पर खड़े होने वाले संघर्षों की भविष्यवाणी भी करने में सफल रहा। वैसे मुलशी और बोधगया मठ के आंदोलनों में कोई अंतर नहीं दिखता, मगर मुलशी-बोधगया और सिंगुर-नंदीग्राम के बीच सबसे बड़ा अंतर नीयत का नजर आता है।

अब राजनीति समाज में वर्चस्व की मूल विधा हो चुकी है, इसलिए उन सभी जगहों पर जहां सरकार ने किसी एक निजी कंपनी के फायदे के लिए किसानों से उनकी जमीन छीनी है, उन तमाम जगहों पर विरोध करते राजनीतिक दल के प्रतिनिधि मुद्दों को गरमाने की नीयत से सक्रिय रहते हैं। इसीलिए नंदीग्राम के कथित आंदोलन में विशुद्ध तौर से जनांदोलन शून्य और राजनीतिक प्रेरणा ज्यादा छलकती दिखी।

यह सच है कि उन यूरोपीय मुल्कों, जहां की संस्थाएं अपने देश में जनांदोलनों को जन्म देने में मदद करती हैं, ऐसे आंदोलनों के बीच महानायकों की छवि गढ़ती हैं और आखिरकार उन्हें हजारों डॉलर के पुरस्कारों से नवाजती हैं, उन देशों के सामाजिक कार्यकर्ता एक दबाव समूह के भागीदार बन कर जल-जंगल-जमीन से जुड़े मुद्दों को अंजाम तक पहुंचाते हैं। इस वजह से उनके लिए सत्ता का कोई आकर्षण नहीं होता। क्या यह सच नहीं है कि भारत की आबोहवा को चौपट करने के यूक्लिप्टस-डीडीटी जैसे विलायती फॉर्मूले पहले जबरन थोपे जाते हैं और फिर उसके बाद उन्हीं फॉर्मूलों के खिलाफ आवाज उठा कर एक वृहत आंदोलन का रूपक तैयार किया जाता है।

आश्चर्य की बात है कि जिन इलाकों में सरकार शिक्षा के अधिकार को आज तक तरीके से लागू नहीं कर सकी और उन इलाकों में लोग बड़ी संख्या में निरक्षर हैं, उन जंगल वाले इलाकों से भारी संख्या में लोग अंग्रेजी में लिखे लोक-लुभावन नारों वाले बैनर लेकर कैसे निकलते हैं? अगर बेजुबानों को आवाज देने में स्थानीय स्तर की गैर-सरकारी संस्थाएं सक्रिय होती हैं तो देश को यह जानने का अधिकार जरूर है कि उनके आंदोलन को आर्थिक मदद कहां से मिल रही है।

बेशक आजादी के इतने सालों बाद सत्ता का चरित्र बदला है, लेकिन ये तमाम प्रवृत्तियां डराती जरूर हैं। गयस्तो के संदर्भ में कहना यही होगा कि उनका यह निर्णय इस वजह से महत्त्वपूर्ण कहा जा रहा है कि बहुत लंबे समय से राजनीति में पर्यावरण के सरोकारों को शामिल किए जाने की बात हो रही है। यानी इस देश में ग्रीन पार्टी की तर्ज पर किसी दल और व्यक्ति की उपस्थिति से सकारात्मक माहौल बनेगा। लेकिन बात संवेदनशीलता की है।

देश के आंदोलनकारियों को कितना पता है कि कुछ आविष्कृत टीकों का परीक्षण चोरी-छिपे भारत के आदिवासी बच्चों पर करवाया जा रहा है! यहां तक कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित 1966 की मानवीय अधिकारों से जुड़ी प्रसंविदा में इंसान को 'गिनी पिग' नहीं बनाने की हिदायत की धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई है। एक रिपोर्ट के मुताबिक सरकार की जानकारी के बगैर आंध्र प्रदेश के सोलह हजार आदिवासी बच्चों पर गार्डिसल नामक किसी नई वैक्सीन को आजमाया गया है।

काश राजनीति की राह तलाशते सामाजिक कार्यकर्ता विश्व स्वास्थ्य संगठन, पाथ (प्रोग्राम फॉर एप्रोप्रियेट टेक्नोलॉजी इन हेल्थ) और गवि (ग्लोबल अलायंस फॉर वैक्सींस एंड इम्यूनाइजेशन), जो मिलिंडा गेट्स फाउंडेशन के लावा-बतासा के भोग पर जिंदा हैं, उनकी गतिविधियों पर सवाल उठाते। उन्हें इस बात पर एतराज क्यों नहीं है कि जिला स्कूल प्रशासन और अभिभावकों को जानकारी दिए बगैर कैसे इतनी बड़ी संख्या में आदिवासी बच्चों की जिंदगी की चिंता किए बगैर ऐसे जघन्य आपराधिक कार्य को अंजाम दिया गया। रिपोर्ट के मुताबिक इनमें से कई बच्चे बीमार पड़ गए और उनमें से पांच की मौत हो गई।

ऐसा ही एक प्रयोग गुजरात के वडोदरा के चौदह हजार आदिवासी बच्चों पर किया गया था। ग्लासको स्मिथक्लिन द्वारा निर्मित सर्वारिक्स, एचवीपी वैक्सीन, सर्विक्स- ये तमाम टीके इन बच्चों पर कितने निष्प्रभावी या दुष्प्रभावी रहे, कहना मुश्किल है। लेकिन यह खबर मायने रखती है कि ग्लासको स्मिथक्लिन ने ये तमाम टीके बेल्जियम नदी में फेंक दिए थे, क्योंकि मानव जिंदगी के लिए ये बेहद घातक घोषित किए गए थे। यूरोपीय स्वार्थों की भेंट चढ़ती अपने देश की आबोहवा क्या राजनीतिक स्वार्थों की भेंट चढ़ेगी या कुछ बेहतर होने की संभावना आज भी है? काश, ऐसे तमाम मुद्दे देश के सामाजिक कार्यकर्ता समुदाय को दिख जाते तो राजनीति उनके लिए गौण हो जाती।

# निजता में सेंध

दीपांकर पटेल

**दुनिया मेरे आगे**

आपका स्मार्टफोन क्या आपकी सारी बातें सुन रहा है? मेरे कुछ दोस्त उस वक्त आश्चर्यचकित हो गए जब उन्हें मोबाइल पर उसी उत्पाद का विज्ञापन दिखने लगा, जिसके बारे में वे कुछ देर पहले बात कर रहे थे। वे इस 'रियल टाइम' विज्ञापन को देख कर न केवल हैरत में पड़ गए, बल्कि इस बात से चिंतित हो उठे कि कहीं मोबाइल सॉफ्टवेयर के पीछे से उनकी निगरानी तो नहीं की जा रही। उन्होंने यह भी कहा कि इस बातचीत से पहले न तो गूगल, न किसी ऑनलाइन खरीदारी के मंचों पर उन्होंने अमुक सामान के बारे में कुछ खोजा था।

हम सबने ही यह गौर किया होगा कि जब हम इंटरनेट पर किसी उत्पाद के बारे में कुछ सर्च करते हैं तो उससे जुड़े विज्ञापन कई दिनों तक हमारी स्क्रीन पर चलते रहते हैं। ये इश्तिहार हमें 'अक्रॉस दी प्लेटफोर्म' जैसे फेसबुक, इन्स्टाग्राम आदि हर जगह दिखते हैं। गूगल और फेसबुक जैसी कंपनियों ने अंतरराष्ट्रीय मंचों पर यह स्वीकार किया है कि वे उपयोगकर्ताओं का डाटा तीसरे पक्ष को बेचती हैं।

स्मार्टफोन के विभिन्न एप्लीकेशन सिर्फ हमारी बात नहीं सुन रहे, बल्कि हम जहां जाते हैं, जिस रेस्टोरेंट में खाना खाते हैं, जो हम इंटरनेट पर सर्च करते हैं, जिस तरह के वीडियो देखते हैं और जिस दुकान से खरीदारी करते हैं, सबका एक व्यक्तिगत डाटाबेस भी तैयार करते हैं। ये सब ब्योरे विज्ञापन कंपनियों को महंगी दरों पर बेचे जाते हैं। इंटरनेट की व्यापक दुनिया में बेहतर मार्केटिंग के लिए कंपनियां अपने लक्षित उपभोक्ताओं की पहचान सुनिश्चित कर लेना चाहती हैं। इसलिए विज्ञापन के बाजार में व्यक्तिगत सूचनाओं की ऊंची कीमत लगती है। दरअसल, इंटरनेट के बाजार का मुनाफा भी विज्ञापन से आता है। इसलिए उपयोगकर्ताओं का व्यक्तिगत डाटा इकट्ठा करने के लिए होड़ मची रहती है और इसके लिए नैतिकता को ताक पर रखने में कोई गुरेज नहीं की जाती।

जब भी हम प्ले स्टोर से कोई ऐप डाउनलोड करते हैं तो सामान्य तौर पर वह हमसे फोटो गैलरी, स्टोरेज, लोकेशन, माइक्रोफोन, कैमरा, फोन नंबरों की सूची, एसएमएस आदि तक पहुंच की इजाजत मांगता है। यह पहुंच मिलते ही हमारे फोन के ब्योरे तक निर्बाध रूप से उसकी पहुंच हो जाती है। ऑनलाइन का पारिस्थितिकी तंत्र इतना जटिल है कि उपभोक्ता अपनी गोपनीयता बचा पाने में सक्षम नहीं हो पाता, क्योंकि ज्यादातर मामलों में उपयोगकर्ता यह नियंत्रित ही नहीं कर पाते कि क्या जानकारी एकत्रित की जा रही है, कौन-कौन सा एप्लीकेशन इसे इकट्ठा कर रहा है और फिर इस डाटा का उपयोग कैसे किया जा रहा है। प्ले स्टोर के एप्लीकेशन उपयोगकर्ता से उनके फोन की जानकारियों तक पहुंच की मंजूरी तो ले लेते हैं, लेकिन प्राप्त किए गए डाटा का वे क्या उपयोग या दुरुपयोग करेंगे, इसकी मंजूरी नहीं लेते।

अब विज्ञापन कंपनियों की सेंधमारी बहुत आगे बढ़ चुकी है। दुनिया भर की विज्ञापन कंपनियां अब हम तक विज्ञापन पहुंचाने के लिए 'क्रॉस डिवाइस ट्रैकिंग' का सहारा ले रही हैं। यानी एक ही समय में टीवी, मोबाइल, टेबलेट पर एक ही विज्ञापन प्रसारित करने की तकनीकी। इसमें 'अल्ट्रासोनिक सिग्नलों' के सहारे टेलीविजन में प्रसारित हो रहा विज्ञापन मोबाइल में ट्रांसफर कर दिया जाता है। सुनने में ये थोड़ा अप्रत्याशित-सा लगता है, लेकिन चार सौ से ज्यादा टीवी चैनलों पर अल्ट्रासोनिक सिग्नल्स से लैस विज्ञापन प्रसारित हो रहे हैं। आमतौर पर जब विज्ञापन शुरू होता है तो हम टीवी चैनल बदलते हैं या फिर 'सेकेंड स्क्रीन' यानी मोबाइल या टेबलेट की स्क्रीन देखने लगते हैं।

दर्शकों की इसी आदत का फायदा उठाने के लिए विज्ञापन कंपनियां इस तरह की सेंधमारी कर रही हैं। 'ऑडियो/ अल्ट्रासोनिक बीकन्स' की यह तकनीक निजता के हनन के लिए खूब विवादों में रही है। फिर भी दुनिया भर में इसका इस्तेमाल धड़ल्ले से हो रहा है और विज्ञापन कंपनियां लाखों डॉलर कमा रही हैं। इस तरह की तकनीकी की मार्केटिंग करने वाली कंपनियों का सारा ब्योरा इंटरनेट पर मौजूद है, लेकिन ज्यादातर देशों की सरकारें निजता के इस हनन को मामूली मुद्दा समझ कर नजरअंदाज करती रही हैं। यही नहीं, इस तरह की तकनीकी की जानकारी आम लोगों को न होने कि वजह से इसके विरोध में कोई जन-मुहिम भी आकार नहीं ले सकी है। गूगल ने कई बार अल्ट्रासोनिक बीकन्स वाले एप्लीकेशन को अपने प्ले स्टोर से बैन करने की बात कही है, लेकिन एक सच यह भी है कि खुद गूगल पर ही निजता के हनन के आरोप लगते रहे हैं।

तकनीकी विकास के साथ स्मार्टफोन ने हमें सहूलियतें तो खूब मुहैया कराईं, लेकिन अब ये निगरानी का हथियार बन गई हैं, जिनका नियंत्रण उस बाजार के हाथ में है जिसने उपभोक्ता को ही उत्पाद बना दिया है। इससे निपटने के लिए सबसे बेहतर तो यही है कि आप जब इंटरनेट का प्रयोग न कर रहे हों तो मोबाइल डाटा बंद रखें। इसके अलावा आप विभिन्न एप्लीकेशन की सेटिंग में जाकर दी जा रही पहुंच को नियंत्रित कर सकते हैं। निजता को सुनिश्चित करना व्यक्ति के साथ-साथ सरकार की भी जिम्मेदारी है। सुप्रीम कोर्ट के मुताबिक निजता का अधिकार एक मौलिक अधिकार है। इसलिए इसे सुनिश्चित करने के लिए मजूबत डाटा सुरक्षा कानून बनाने की सख्त जरूरत है।

# उपलब्धि का अंतरिक्ष

फरवरी 2017 में जब भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान ने 104 उपग्रहों को सफलता पूर्वक अंतरिक्ष में भेजा तो सीएनएन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि अमेरिका बनाम रूस भूल जाइए क्योंकि अंतरिक्ष में असली दौड़ तो एशिया में चल रही है। इस रिपोर्ट में भारतीय सफलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी। एशिया में भारत, चीन और जापान अंतरिक्ष में एक लंबा सफर तय कर चुके हैं। अब भारत ने उपग्रह रोधी प्रक्षेपास्त्र का सफलता पूर्वक परीक्षण किया है। इस परीक्षण में भारत ने 300 किलोमीटर दूर एक उपग्रह को मार गिराया। इस सफलता के साथ ही भारत अब अमेरिका, रूस और चीन की कतार में खड़ा हो गया है। दो रॉकेट बूस्टर के साथ 18 टन की मिसाइल से 740 किलो के उपग्रह को पृथ्वी के निचली परिधि में तीन मिनट में मार गिराया गया। इससे साफ है कि भारत अब उपग्रह घाती प्रक्षेपास्त्र से अपने दुश्मन के उपग्रह को नष्ट कर सकता है।

रणनीतिक दृष्टि के साथ-साथ सुरक्षा व वैज्ञानिक प्रगति के लिहाज से भारत की यह बहुत बड़ी सफलता है। सब जानते हैं कि तकनीकी व सूचना क्रांति की आवश्यकताओं के चलते अंतरिक्ष में उपग्रहों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है और इससे पृथ्वी को नए तरह के खतरे का सामना करना पड़ रहा है। अपनी आयु पूरी करने के बाद यही उपग्रह नियंत्रणहीन हो जाते हैं या इनकी आवश्यकता नहीं रहती। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से दूर होने के कारण ये धरती पर भी नहीं गिरते और अंतरिक्ष में ध्वनि की गति से भी कई हजार गुना तेज रफ्तार से घूमते रहते हैं। कई बार तो ये अन्य उपग्रहों के साथ-साथ धरती पर जीवन के लिए खतरा भी बन जाते हैं। याद करें 2007 और 08 में अमेरिका के उपग्रह नियंत्रणहीन होकर अंतरिक्ष से गिर रहे थे तो नासा ने इसी तकनीक से इन्हें धरती से सैकड़ों किलोमीटर दूर ही मार गिराया था। भारत के पास भी यह तकनीक आई है तो इसका स्वागत होना चाहिए क्योंकि भविष्य में इस तरह की कोई परिस्थिति पैदा हो तो हम उससे अपने स्तर पर निपट सकते हैं।

जैसा कि सामरिक मामलों के विशेषज्ञ मानते हैं, युद्ध में केवल सैनिक व हथियार सब कुछ नहीं होते बल्कि संचार व्यवस्था भी बहुत बड़ी भूमिका निभाती है। विश्व की संचार व्यवस्था अधिकतर उपग्रहों पर ही निर्भर है और उपग्रहों की मारक क्षमता होने के कारण किसी भी जिस तरह विकट समय में भी संयम व धैर्य का परिचय दिया है वह पूरी दुनिया को आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त है कि हमारा यह कार्यक्रम केवल और केवल आत्मरक्षा के लिए है। भारत विकास की दिशा में तेजी से आगे बढ़ रहा है और विकास की पहली शर्त सुरक्षित व शक्तिसंपन्न होना है।

● *राकेश सैन, वीपीओ- लिदड़ां, जालंधर*

# तैयारी के साथ

कांग्रेस अध्यक्ष ने गरीबी उन्मूलन की एक नई योजना का ऐलान किया है जिसके अनुसार अगर कांग्रेस आगामी लोकसभा चुनाव जीतती है तो 12000 रुपए से कम मासिक आय वाले परिवारों को सरकार 72000 रुपए प्रतिवर्ष देगी। कुछ लोगों का मानना है कि इससे गरीब काम करना छोड़ देंगे या लापरवाह हो जाएंगे। दरअसल, गरीब लोग आमतौर पर मेहनतकश होते हैं, मजदूरी कर अपना जीवनयापन करते हैं तो यह समस्या नहीं आनी चाहिए। पर बड़ा सवाल है कि क्या यह वादा भी चुनावी वादा तो बन कर नहीं रह जाएगा क्योंकि लग रहा है कि इस योजना को बस चुनाव जीतने के लिए घोषित किया गया है। न्यूनतम आय गारंटी वाली यह योजना तो सही है पर इसे देश के बजट को ध्यान में रख कर पूरी तैयारी से लाने की जरूरत है अन्यथा हर बार की तरह इस बार भी इसे महज चुनावी वादे की तरह देखा जाएगा जिस पर लोगों को विश्वास नहीं होता है। कांग्रेस को ऐसी योजना पर विचार करना चाहिए जिससे भविष्य में देश पर आर्थिक बोझ भी न पड़े और योजनाएं भी सुचारू रूप से लागू हो जाएं।

● *शुभम गुप्ता, नावागढ़, धनबाद, बिहार*

# जुर्म और दंड

केंद्र सरकार को 1990 में कश्मीर में हुए पंडितों के भयावह/व्यापक विस्थापन को 'नरसंहार' मान कर इस बर्बर कृत्य के कारणों की जांच करा कर दोषियों को दंड दिलाना चाहिए। बड़े दुख और अफसोस की बात है कि इस नरसंहार को अंजाम देने वाले अपराधी अभी भी खुले आम घूम रहे हैं। जैसे चौरासी के दंगों को लेकर सर्वोच्च अदालत ने जांच के फिर आदेश दिए, वैसे ही 1990 में पंडितों के विस्थापन/नरसंहार को लेकर भी जांच के आदेश दिए जाने चाहिए। लगभग 30 वर्ष होने को आ रहे हैं लेकिन पंडितों के साथ हुई इस हिंसक त्रासदी पर न कभी कोई जांच-आयोग बैठा और न किसी दोषी को सलाखों के पीछे भेजा गया। जाने क्यों किसी भी केंद्र/ राज्य सरकार ने इस मुद्दे को जांच के लायक नहीं समझा?

● *शिबन कृष्ण रैणा, अलवर, राजस्थान*

# चुनाव के समय

जम्मू-कश्मीर की बारामुला-कुपवाड़ा लोकसभा सीट से नेशनल कॉन्फ्रेंस के उमीदवार अकबर लोन का यह कहना निंदनीय है कि कोई पाकिस्तान को एक गाली देगा तो हम दस गाली देंगे। इस पार्टी के शीर्ष नेता फारूक अब्दुल्ला जहां भारत माता की जय-जयकार करते हैं वहीं दूसरी तरफ उनकी पार्टी के लोकसभा उम्मीदवार इस तरह होकर उल्टा-पुल्टा बयान देकर कश्मीर की जनता को भ्रम में डालते हैं। ऐसे नेताओं को मतदाता चुनाव के समय अपने वोट से सबक सिखा सकते हैं।

● *हेमा हरि उपाध्याय, खाचरोद, उज्जैन*

## चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com